नाट्य-शास्त्र

महावीरप्रसाद द्विवेदी

निवेदन

यह निबन्ध लिखे हमें कोई आठ वर्ष हुए। फ़रवरी १६०३ में यह लिखा गया था। तब से यह एक मित्र के यहाँ पड़ा रहा। वहाँ से अभी लौटकर आया है। इसके प्रकाशन में देरी होने का यही कारण है।

बाबू हरिश्चन्द्र की लिखी हुई इस विषय की एक छोटी सी पुस्तक बहुत पहले से विद्यमान है। मराठी में कई एक अच्छी अच्छी पुस्तकों के लेखक पण्डित बलवन्त कमलाकर ने नाट्यशास्त्र पर जो एक प्रबन्ध लिखा है उसका भी हिन्दी-अनुवाद एक महाशय ने कर डाला है। उसे भी हिन्दी-साहित्य में सम्मिलित हुए कई वर्ष हुए। इन महाशय ने इस मराठी-पुस्तक का यद्यपि अथ से इति पर्य्यन्त अनुवाद किया है तथापि मूल पुस्तक के कर्त्ता का नाम देना आप भूल गये हैं। अतएव, हम भी आपका, आपकी पुस्तक का और आपकी पुस्तक के प्रकाशक का नाम देना भूल जाना ही उचित समझते हैं।

इस निबन्ध में जिन पुस्तकों का नाम आया है उनके सिवा अँगरेज़ी और संस्कृत की और भी अनेक पुस्तकों को पढ़कर यह लेख हमने लिखा है। बाबू हरिश्चन्द्र और पण्डित बलवन्त राव की पुस्तकों से भी हमने लाभ उठाया है। अतएव इन सब विद्वानों के हम परम कृतज्ञ हैं। पिछले दिनों साहित्य-सेवियों

की पुस्तकों में लिखी गई कितनी ही बातें इस निबन्ध में भी मिलेंगी। परन्तु, पाठक ऐसी भी अनेक बातें इसमें पावेंगे जो पूर्वोक्त पुस्तकों में से किसी में भी नहीं—अर्थात् हिन्दी में वे प्रायः बिलकुल ही नई हैं। अतएव, आशा है, इसका प्रकाशन अनावश्यक न समझा जायगा।

जुही, कानपुर,
२४ नवम्बर १९१०

महावीरप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

विषय-नाम	पृष्ठ
१—विषय-प्रवेश	१
२—रूपक	१४
३—उपरूपक	२५
४—पात्र-कल्पना	२६
५—भाषा	३७
६—रचना-चातुर्य्य	३९
७—वृत्तियाँ, अलङ्कार और लक्षण	४६
८—जवनिका, परदे और वेशभूषा	५१
९—दृश्य काव्य का काल-विभाग	५४
१०—उपसंहार	५६

नाट्यशास्त्र

विषय-प्रवेश

संस्कृत में एक धातु 'नट्' है। वह नाचने के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। उदाहरण—

> कम्रे कटाक्षरुचिरङ्गतले कृपाख्या
> शैलूषकी नटति शङ्करवल्लभे ते।
>
> (मूककवि-कृत कटाक्षशतक)

अर्थात्, हे गिरिजे! तुम्हारी कटाक्षरूपिणी सुन्दर रङ्गभूमि में कृपा नाम की नटी नाच रही है। इस उदाहरण में 'नटति' क्रिया 'नट्' धातु ही से बनी है। 'नट्' धातु में अच् प्रत्यय लगाने से नट् शब्द बना है, उसका अर्थ नाचनेवाला है। अर्थात् नटों का व्यवसाय नाचना है। नाट्य और नाटक शब्द भी 'नट्' धातु ही से बने हैं। ये दोनों शब्द नटों के कर्म्म-व्यवसाय के बोधक हैं। अर्थात् नटों का कर्म्म नाट्य अथवा नाटक कहलाता है। इससे यह सूचित हुआ कि नाट्यशास्त्र में नटों से सम्बन्ध रखनेवाले कार्यों अथवा भावों का वर्णन होना चाहिए। यह यथार्थ है। इस शास्त्र में

नट, नटी और उनके सहयोगियों के कार्यकलाप से सम्बन्ध रखनेवाली बातों ही का वर्णन है।

नाटक का दूसरा नाम रूपक भी है। नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने इस दूसरे ही नाम का अपने ग्रन्थों में विशेष प्रयोग किया है। नाटक में प्रत्येक पात्र किसी दूसरे का रूप धारण करके उसी के अनुसार बर्ताव करता है। अर्थात्, यदि दुष्यन्त का वर्णन आता है तो उस पर दुष्यन्त के रूप का आरोप होता है और दुष्यन्त का रूप धारण करके जैसे हाव-भाव दुष्यन्त ने किये होंगे वैसे ही हाव-भाव वह भी, अपने को दुष्यन्त ही मानकर, सबको दिखलाता है। ऐसा करने में एक व्यक्ति पर दूसरे व्यक्ति का आरोप होता है। इसी लिए नाट्य का दूसरा नाम रूपक रक्खा गया है। रूपक का लक्षण "रूपारोपात्तु रूपकम्" है। अर्थात् जिसमें रूप का आरोप किया जाता है वह रूपक है।

काव्य दो प्रकार के हैं—एक श्रव्य, दूसरे दृश्य। जिसमें कवि किसी वस्तु का स्वयं वर्णन करता है वह श्रव्य काव्य है। अर्थात्, जिसे सुनने से आनन्द मिलता है उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। रघुवंश, किरात, नैषध, रामायण, सतसई आदि श्रव्य काव्य हैं। जिसमें कवि स्वयं कुछ नहीं कहता; जो कुछ उसे कहना होता है उसे वह उन बातों से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियों से कहलाता है—उसे दृश्य काव्य कहते हैं। अर्थात् जिसे देखकर आनन्द मिलता है वह दृश्य काव्य

है। शाकुन्तल, रत्नावली, विक्रमोर्वशीय, सत्यहरिश्चन्द्र और नीलदेवी आदिक दृश्य काव्य हैं।

किसी वस्तु का वर्णन सुनने से जितना आनन्द मिलता है उससे बहुत ही अधिक उसे प्रत्यक्ष देखने से मिलता है। देखने और सुनने में बड़ा अन्तर है। अतएव जिस काव्य के द्वारा किसी कवि की कविता का रस नेत्र द्वारा साक्षात् पान करने को मिले वही काव्य श्रेष्ठ है। इसी लिए श्रव्य काव्यों की अपेक्षा दृश्य काव्यों की महिमा अधिक है। कालिदास की जो इतनी कीर्त्ति देश-देशान्तरों में फैली है वह उसके दृश्य काव्य ही की कृपा का फल है। यदि सर विलियम जोन्स अभिज्ञान-शाकुन्तल का अँगरेज़ी में अनुवाद न करते तो रघुवंश और मेघदूत आदि के द्वारा कालिदास का यश ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस और जरमनी आदि विदेशी देशों में अब तक उतना न फैलता जितना इस समय फैला हुआ है। कविकुलगुरु के नाटकों ही ने उनकी महिमा को विशेष बढ़ाया है। परन्तु, खेद है, हिन्दी बोलनेवाले, हम लोग, लाभदायक और उपयोगी विषयों को नाटक के रूप में लाकर उनके द्वारा मनोरञ्जन करने की ओर बहुत ही कम ध्यान देते हैं। यदि कोई नाटक लिखता भी है तो वह प्रायः ऐसा बे सिर पैर का लिखता है कि उसके अभिनय की बात तो दूर रही, उसे पुस्तक ही में देखकर दुःख होता है।

रूपक अर्थात् नाटक में नट दूसरे का रूप धारण करके उसके कार्यों का अनुकरण करता है। इस अनुकरण का नाम

अभिनय है। अभिनय, संस्कृत में, 'नी' धातु के पहले 'अभि' उपसर्ग और पीछे 'अच्' प्रत्यय लगाने से बना है। 'नी' का अर्थ 'ले जाना' और 'अभि' का अर्थ 'चारों ओर' है। अर्थात् जिसमें किसी के कार्य का अनुकरण अङ्ग से, वाणी से, वेश-भूषा से, अथवा मनोवृत्ति-सूचक शारीरिक चिह्नों से सब ओर दिखलाया जाय उसे अभिनय कहते हैं। नाटक में हर्ष-शोक आदिक मानसिक विकार और हँसना, रोना, चलना, फिरना, कहना, सुनना, आदिक शारीरिक विकार किंवा कार्य, सब, अभिनय द्वारा तद्वत् दिखलाये जाते हैं। अभिनय में मनुष्य की सब अवस्थाओं और उसके सब विकारों का अनुकरण करके देखनेवालों को उनका प्रत्यक्ष अनुभव कराया जाता है। ये अभिनय इस प्रकार किये जाते हैं कि दर्शकों को यह नहीं प्रतीत होता कि वे खेल देख रहे हैं। यदि ऐसा न हो तो यह समझना चाहिए कि अभिनय ठीक नहीं हुआ।

नट शब्द के धात्वर्थ का विचार करने से जान पड़ता है कि पहले पहल इस देश में जब नटों ने खेल आरम्भ किया तब वे केवल नाचते ही थे। 'अभिनय' में जिन जिन क्रियाओं का समावेश होता है वे सब क्रियायें उस समय प्रचलित न थीं। यदि होतीं तो शायद नट के लिए कोई दूसरा ही नाम दिया जाता। और यही ठीक भी जान पड़ता है; क्योंकि आदि में सभी कलायें अपूर्ण रहती हैं; उनकी उन्नति धीरे धीरे होती है।

इसका पता लगाना कठिन है कि किस समय से अभिनय ने अपना पूर्ण रूप धारण किया। नाट्यशास्त्र के आचार्य भरत मुनि हैं। ये बहुत प्राचीन हैं। परन्तु यह नहीं निश्चित कि वे कब हुए। उनके भी पहले नाटक लिखे जा चुके थे। यदि ऐसा न होता तो भरत को नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी सूत्र न बनाने पड़ते। उन्होंने एक बड़ा ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होंने नाट्यशास्त्र के लक्षण विस्तारपूर्वक दिये हैं। जिस प्रकार भाषा के अनन्तर व्याकरण बनता है, उसी प्रकार लक्ष्य-ग्रन्थों के अनन्तर लक्षण-ग्रन्थ बनते हैं। इसी लिए यह कहना निर्मूलक नहीं कि भरत के पहले अनेक नाटक बन चुके होंगे। उन नाटकों में नाट्य-कला के दोष देखकर उस शास्त्र के लक्षण लिखने की इच्छा भरत को हुई होगी। अर्थात् भरत के बहुत पहले ही, भरतखण्ड में नाटक-ग्रन्थ बन चुके थे और उनका प्रयोग भी होता था। व्याकरण के आचार्य पाणिनि भरत से भी पुराने हैं। भाषा उत्पन्न होने पर पहले व्याकरण की आवश्यकता होती है; नाटक इत्यादि पीछे बनते हैं। अतएव यह अनुमान अनुचित नहीं कि पाणिनि मुनि भरत से पहले हुए हैं। यदि न भी पहले हुए हों तो वे कुछ आज के तो हुई नहीं; प्राचीन अवश्य हैं। उन्होंने अपने व्याकरण में नाट्यशास्त्र के दो आचार्यों के नाम लिखे हैं—शिलालिन् और कृशाश्व। इससे यह सिद्ध है कि पाणिनि और भरत के पहले भी नाट्यकला का प्रचार इस देश में था। प्रचार ही नहीं, किन्तु उसके लक्षण-ग्रन्थ

तक बन गये थे। नाट्य-कला की आदिम अवस्था में नट केवल नाचते ही थे; ठीक अभिनय नहीं करते थे। परन्तु शिलालिन् और कृशाश्व के समय में नाट्यकला की उन्नति हो चुकी थी। उस समय अङ्ग से, वाणी से और वेश इत्यादि से पूरा पूरा अभिनय होने लगा था। इसका प्रमाण पतञ्जलि-मुनि का व्याकरण-महाभाष्य है। पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या करते समय पतञ्जलि कहते हैं कि नट गाते थे और दर्शक उनका गाना सुनने जाते थे। यही नहीं; वे और भी कुछ कहते हैं। वे लिखते हैं कि कृष्ण के द्वारा कंस का वध किया जाना और विष्णु के द्वारा बलि का छला जाना भी रङ्गभूमि में दिखलाया जाता था। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि ईसा से बहुत पहले नाट्य-कला का पूरा पूरा प्रचार इस देश में था। अतएव जो लोग यह कहते हैं कि भारतवर्ष ने और और देशों की सहायता से अपनी नाट्य-कला की उन्नति की, वे भूलते हैं। डेढ़ दो हज़ार वर्ष के लगभग तो कालिदास ही को हुए हुआ। उनके समय में नाट्य-कला परिपक्व दशा को पहुँच चुकी थी।

नाट्य-कला का उल्लेख पुराणों में भी है। हरिवंशपुराण के ९३ वें अध्याय में लिखा है कि वज्रनाभ के नगर में प्रद्युम्न आदि ने "कौवेररम्भाभिसार" नाटक खेला था। उस नाटक में जिसने जिसका रूप लिया था उसका भी वर्णन है। जो लोग पुराणों को वेदव्यास-कृत मानते हैं और उनको अत्यन्त प्राचीन समझते हैं उनके लिए तो कुछ कहने की आवश्यकता

ही नहीं। परन्तु जो ऐसा नहीं समझते उनको हरिवंश के प्राचीनत्व का प्रमाण दरकार होगा। अतएव उनको बंकिम बाबू के कृष्णचरित्र का प्रमाण देते हैं। वहाँ उन्होंने सिद्ध किया है कि हरिवंश पुराण महाभारत से थोड़े ही दिन पीछे बना है। अतएवपुराणों में नाटकों के खेले जाने का पता लगने से यही मानना पड़ता है कि यह कला हम लोगों ने बहुत प्राचीन समय में सीखी थी।

भरत ने अपने ग्रन्थ में शिलालिन् और कृशाश्व आदि आचार्य्यों का नाम तो नहीं लिया; परन्तु उनके लिखने के ढँग से यह सूचित होता है कि उनके पहले नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी और कई ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। यदि ऐसा न होता तो भरत मुनि अपने सूत्रों को इतना सर्वाङ्ग-सुन्दर शायद न बना सकते और सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का विवेचन भी उसमें न कर सकते। सुना जाता है कि नाट्य-कला को भरत ने ब्रह्मा से सीखा था। यदि ब्रह्मा ने पहले पहल यह कला भरत को सिखलाई तो कृशाश्व आदि ने उसे किससे सीखा? वे तो भरत से भी पहले हुए जान पड़ते हैं। परन्तु, इन प्राचीन बातों पर तर्क-वितर्क करते बैठना व्यर्थ कालक्षेप करना है। अतएव हमारे लिए इतना ही जानना बस है कि नाट्य-कला बहुत ही प्राचीन कला है और उसके कई आचार्य्य हो गये हैं, जिनमें से केवल भरत मुनि का सूत्र-बद्ध ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है। भरत के ग्रन्थ के अनन्तर चाहे जितने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी बने हों,

परन्तु, इस समय, एक ही और प्रामाणिक ग्रन्थ इस विषय का पाया जाता है। इसका नाम दशरूपक है। इसे धनञ्जय नाम के कवि ने ग्यारहवें शतक में लिखा था। इसमें नाट्यशास्त्र का बहुत ही अच्छा विवरण है। यह ग्रन्थ सर्वमान्य है। संस्कृतज्ञ विद्वान् इसे विशेष प्रमाणिक मानते हैं। इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश, काव्यादर्श, सरस्वती-कण्ठाभरण और साहित्यदर्पण आदि में भी नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त वर्णन है।

आरम्भ में अप्सरायें और गन्धर्व आदि नाटकों का अभिनय देवताओं के सम्मुख करते थे। उन्हीं का अनुकरण मनुष्य करने लगे और देवालयों में अभिनय होने लगा। पहले केवल नाच था; फिर नाच के साथ गाना भी होने लगा; और, अन्त में, क्रम क्रम से अभिनय ने अपना पूरा रूप धारण किया। प्राचीन समय में देवताओं के उत्सवों पर नाटकों का प्रयोग होता था। बङ्गदेश की यात्रा और इन प्रान्तों की रामलीला पुराने नाटकों का चिह्न जान पड़ती है। धीरे धीरे राजाओं की रङ्गशालाओं में, मनोरञ्जन और उपदेश के लिए, नाटकों का खेल होने लगा। इस प्रकार, क्रम क्रम से, नाट्य-कला ने उन्नत रूप धारण किया और उसका देशव्यापी प्रचार हुआ। परन्तु बम्बई, कलकत्ता आदि नगरों में बने हुए थियेटर (नाट्यशाला) के समान सर्वसाधारण के लिए कोई नाट्य-मन्दिर, इस देश में, पहले कभी न था।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, नाटक का व्यापक अर्थ नक़ल (अनुकरण) करना है। किसी के इशारों को, किसी की बातों को और किसी के कार्य्यों को तद्वत् करके अथवा कहके बतलाना नाटक कहलाता है। मनुष्य में स्वभाव ही से अपने मन के विचारों को वाणी से अथवा अङ्ग-भङ्गी से प्रकट करने की इच्छा उत्पन्न होती है। उनके प्रकट करने की रीति को वह औरों के सहवास से सीख लेता है। यह बात सभ्य और असभ्य—सभी—देशों में पाई जाती है। नक़ल, अर्थात् अनुकरण, करने में आनन्द भी मिलता है। इसी लिए छोटे छोटे लड़के दूसरों का अनुकरण करके हँसते और आनन्दित होते हैं। अफ़रीक़ा के असभ्य हवशी और अमरीका के असभ्य इण्डियन लोगों को भी अनुकरण करना आता है। अनुकरण करना मनुष्यों में स्वाभाविक है। इस अनुकरण का बीज मनुष्य की इच्छा में रहता है। उस इच्छा को हम चाहे मानुषिक कहें, चाहे ईश्वरोत्पादित कहें—इच्छा अथवा मन से ही अनुकरण करने की भावना उत्पन्न होती है; और अनुकरण ही नाटक है। मनुष्य-जाति में अनुकरण सर्वत्र प्रचलित है। परन्तु इस अनुकरण की गणना नाटक में होने के लिए अनुकरण से उत्पन्न हुए कार्य्यों को भाषा के साहित्य में कोई रूप प्राप्त होना चाहिए। अनुकरण को कोई रूप मिले बिना उसे साहित्य में स्थान नहीं मिल सकता; अतएव वह साहित्य की शाखा भी तब तक नहीं हो सकता। ऐसी अनेक मनुष्य-जातियाँ पृथ्वी पर हैं जिनमें

अनुकरण बराबर होता है; परन्तु वह अनुकरण नाटक के रूप में नहीं होता। इसी लिए उनमें नाट्य-साहित्य का अभाव है।

अनुकरण को नाटक का नाम प्राप्त होने के लिए नियमों की आवश्यकता होती है। जिन नियमों के अनुसार अनुकरण किया जाता है उन नियमों के समुदाय ही को नाट्य-शास्त्र कहते हैं। इस अनुकरण का पर्य्याय-वाचक शब्द 'अभिनय' बहुत व्यापक शब्द है। नाटक के कार्य्यों के सूचक सब भाव इस शब्द में बँधे हुए हैं। इसके उच्चारण करते ही रङ्गभूमि में अनुकरण करने की सब रीतियों का उदय मन में तत्काल हो आता है। अतएव अनुकरण के स्थान में अभिनय शब्द का ही उपयोग उचित है। अभिनय का उल्लेख ऊपर हमने किया है और यह भी बतलाया है कि अभिनय के कितने प्रकार हैं। भरत और धनञ्जय ने अपने अपने ग्रन्थों में अभिनय के नियमों का विस्तृत वर्णन किया है। इन नियमों में से कोई कोई नियम बहुत ही सूक्ष्म हैं। वे ऐसे हैं कि नाटककार कवियों ने उनका बहुधा उल्लङ्घन किया है। स्थूल नियमों में से भी, देश-दशा और समय के परिवर्तन के कारण, बहुतेरे नियम, यदि, आजकल, काम में न लाये जायँ तो कोई हानि नहीं। सच तो यह है, नियम पीछे बनाये गये हैं; नाट्य-कला का उदय पहले ही हुआ है। अनुकरण करने की रीतियाँ अनन्त हैं। कोई यह नहीं कह सकता कि अमुक ही रीति से अनुकरण हो सकता है। अतएव मानसिक विकारों के परम

ज्ञाता प्रतिष्ठित कवि अपनी अनन्त-अनुकरण-शीलता के बल से यदि नाट्यशास्त्र के नियमों का उल्लङ्घन भी कर जायँ तो कोई आश्चर्य्य अथवा दोष की बात नहीं। नाट्यशास्त्र के नियमों को पढ़कर ही कोई अच्छा नाटककार नहीं हो सकता। अच्छा नाटककार वही हो सकता है जो अच्छा कवि अथवा अच्छा लेखक है; और जो अपनी लिपिबद्ध वाणी में मानसिक विकारों का सजीव चित्र खींच सकता है। यदि ऐसे कवि अथवा लेखक ने नाट्यशास्त्र पढ़ा है तो और भी अच्छा है; परन्तु यदि नहीं भी पढ़ा है—नाटक की स्थूल ही प्रणाली वह जानता है—तो भी उसके रचित नाटक से मनुष्यों का अवश्य मनोरञ्जन होगा। अनुकरण करने की शक्ति का होना उसमें प्रधान है। इस शक्ति के बिना भरत और धनञ्जय, अरिस्टाटल और ल्यसिङ्, कार्नील और ड्राइडन बहुत कम काम दे सकते हैं।

अनुकरण को उत्पन्न करनेवाली इच्छा अथवा शक्ति ही से नाटककार का कार्य आरम्भ होता है। इस शक्ति के बल से नाटककार के मन में पहले एक भाव उत्पन्न होता है। भाव के अनन्तर विषय की उत्पत्ति होती है। अतएव भाव ही नाटक का बीज है। भाव ही पर विषय अवलम्बित रहता है। शकुन्तला की कथा उसकी सामग्री मात्र है। उसे अनुकरण द्वारा प्रत्यक्ष दिखलाने का भावोदय ही अभिज्ञान-शाकुन्तल का प्रधान कारण है। भावोदय होने पर सामग्री,

अर्थात् विषय, कवि के इच्छानुकूल घट-बढ़ सकता है। यदि कवि चाहे तो सारे संसार को वह अपने नाटक का विषय कर सकता है। नाटक की सामग्री को नाटककार आचार-व्यवहार के अनुसार, रूढ़ि के अनुसार, मनुष्यों की रुचि के अनुसार और स्वयं अपने आग्रह अथवा अनुभव के अनुसार न्यूनाधिक किंवा परिवर्तित अवस्था में दिखला सकता है। परन्तु विषय, अर्थात् सामग्री, का कार्य में परिणत होना, अर्थात् अनुकरण द्वारा भली भाँति दिखलाया जाना, नाटककार के लिए सबसे अधिक आवश्यक काम है। अपूर्ण और अनुचित अनुकरण अभिनय-दर्शकों को कदापि अच्छा नहीं लगता। यथार्थ अभिनय होने के लिए नाटककार को मनुष्य मात्र की चित्तवृत्ति से परिचित होना चाहिए; सब प्रकार के व्यवहार, सब प्रकार की मानुषिक चेष्टायें, सब प्रकार की बातचीत और सब प्रकार की रसज्ञता का ज्ञान उसे होना चाहिए। जो रूप जो व्यक्ति धारण करे उसे उसी का वेश, उसी की चाल, उसी की वाणी, उसी की चेष्टा और उसी की मनोवृत्ति का यथार्थ—याथातथ्य, जैसे का वैसा—अभिनय करके दिखलाना चाहिए। यह अनुकरण ऐसा उत्तम होना चाहिए कि देखनेवालों के मन में यह भाव न उदित हो कि वे नाटक देख रहे हैं। उन्हें यही भासित होना चाहिए कि वे अभिनय की गई घटना का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। इसकी सिद्धता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि देखनेवाले अभिनय करनेवाले ही के से विकार

प्रकट करने लगें। अर्थात् अभिनयकार को कारुणिक अभिनय करते देख देखनेवालों की आँखों से आँसू गिरने लगें। उसे भयभीत हुआ देख वे भी भयभीत हो जायँ, और उसके हास्यरसपूरित अभिनय को देख दर्शक भी हँसने लगें। इन बातों का होना तभी सम्भव है जब कवि मनुष्य-जाति के मानसिक विकारों से पूरा पूरा परिचित होकर उनका अनुभव स्वयं अपने मन में कर सकता है; और उसके साथ ही सब प्रकार के व्यवहारों में वह दक्ष भी होता है। क्योंकि, इन्हीं बातों को कवि, व्यक्तिविशेषों के द्वारा, अभिनयपूर्वक दिखलाता है। अतएव नाटककार होना बहुत कठिन काम है। जो लोग इन बातों में प्रवीणता प्राप्त किये बिना और नाट्यशास्त्र के नियमों का अत्यल्प भी परिचय पाये बिना, आजकल, हिन्दी में नाटक लिखते हैं वे केवल अपना उपहास कराते हैं। मनोरञ्जकता का प्रधान कारण रस है। रस की सिद्धि अभिनय पर अवलम्बित रहती है। यदि अभिनय अच्छा न हुआ तो रसहानि हो जाती है; और रसहानि होने से नाटक ही सत्यानाश जाता है।

रसहानि न होने के लिए अभिनय द्वारा दिखलाई गई वस्तु का यथार्थ अनुकरण होना चाहिए। जीवन की घटनायें, इतिहास में वर्णन की गई बातें, नाटक के विषय से सम्बन्ध रखने वाली कथायें, ये सब, एक प्रकार की प्रचण्ड लहरें हैं। इन सब को अस्त-व्यस्त न बहने देना चाहिए। इन्हें एक शृङ्खला से बाँधकर यथास्थान रखना और अपेक्षानुसार, जिसका जब

समय आवे, उठने देना चाहिए। अर्थात् अनेक बातों को एक शृङ्खला से बाँधकर यथाक्रम, यथासमय और यथोचित रीति पर उनको अभिनीत करना चाहिए। जिस वस्तु का अभिनय होता है उसके सब अवयव जब यथास्थान रखकर उचित शब्द, उचित वेश-भूषा और उचित अङ्ग-भङ्गी द्वारा दिखलाये जाते हैं तभी देखनेवालों को आनन्द आता है।

अभिनय पूर्ण होना चाहिए; उसका अपूर्ण रह जाना दोष है। इतिहास-लेखक किसी बात को अपूर्ण भी रख सकता है, क्योंकि वह सर्वज्ञ नहीं है। परन्तु नाटककार, एक प्रकार, सर्वज्ञ है। जो बात उसके मन में आती है और जिसे वह अभिनय-द्वारा दिखलाना चाहता है उसका कारण, उसका कार्य, और उसके सब अङ्ग उसे विदित रहते हैं। अतएव उसका यह काम है कि अभिनीय वस्तु को वह यथाक्रम सम्पूर्ण रूप में दिखलावे; उसका कोई अंश रह न जाने पावे। अर्थात् जिस वस्तु का अभिनय हो उसके विषय की कोई बात दर्शकों से छिपी न रहे। सब बातों के गुण दोष, और उनके द्वारा प्राप्त हुए भले बुरे फल, सब प्रत्यक्ष हो जायँ। इस प्रत्यक्षीकरण का नाम अनुकूलता अथवा कार्य-क्षमता है।

रूपक

नाट्यशास्त्र के आचार्य्यों ने अभिनय को पहले तीन भागों में बाँटा था—नाट्य, नृत्य और नृत्त। सुनते हैं, शिव ने इन

तीनों में दो भेद और बढ़ाये—ताण्डव और लास्य। नाट्य को छोड़कर अभिनय के शेष चारों प्रकार नाचनेवालों ही के काम के हैं। इसलिए उनको छोड़कर, यहाँ पर, हम केवल नाट्य के भेदों को लिखते हैं।

नाट्य के दो भेद हैं—रूपक और उपरूपक। रूपक दस भेदों में बँटा हुआ है। यथा—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन।

१—नाटक—रूपक के सब भेदों में नाटक मुख्य है। नाट्य-शास्त्र के आचार्य्यों का मत है कि नाटक में पाँच सन्धि, चार वृत्ति, चौंसठ सन्ध्यङ्ग, छत्तीस लक्षण और तैंतीस नाट्यालङ्कार होने चाहिए। उसकी रचना उदात्त होनी चाहिए; सन्धियाँ सुश्लिष्ट होनी चाहिए; अङ्क पाँच और दस के बीच में होने चाहिए। नायक धीरोदात्त, कुलीन, प्रतापी और दिव्य अथवा अदिव्य होना चाहिए। शृङ्गार, वीर अथवा करुण-रस प्रधान होकर दूसरे रस गौण होने चाहिए; सन्धि में अद्भुत रस आना चाहिए। कोई अङ्क छोटा और कोई बड़ा होना चाहिए; अथवा सब अङ्क उत्तरोत्तर छोटे होते जाने चाहिए।

नाटक में जिस वस्तु का वर्णन रहता है उसके विभागों का नाम अङ्क है। अङ्क बहुत बड़ा न होना चाहिए। प्रत्येक अङ्क में जो जो बातें रमणीय और सरस हों वही दिखाई जायँ; शेष को छोड़ देना उचित है। अनेक वर्षों के काम एक एक दिन में बाँटकर दिखलाना अच्छा होता है। जो बातें

मुख्य कार्य्य के विरुद्ध न हों उन्हीं को अङ्क में रखना चाहिए। प्रत्येक अङ्क में चार पाँच पात्रों से अधिक पात्र न हों। दूर से आना, युद्ध, वध, भोजन, शाप, मृत्यु, रति, शयन, चुम्बन, स्नान, नखच्छेद, नगरावरोध इत्यादि अनुचित और लज्जाजनक बातें प्रत्यक्ष न दिखलाना चाहिए।

अङ्क के बीच में, सूत्रधारकृत, मङ्गल और प्रस्तावना के सहित बीजयुक्त जो दूसरा अङ्क होता है उसे गर्भाङ्क कहते हैं—उदाहरणार्थ—बालरामायण नाटक में सीता-स्वयंवर नामक गर्भाङ्क है।

जब करना कुछ होता है, परन्तु किसी कारण के अकस्मात् आ जाने से और ही कुछ करना पड़ता है, तब उस कार्य्य को पताका-स्थानक कहते हैं। योग्य स्थल में पताका-स्थानक को काम में लाना चाहिए। यह कई प्रकार से आता है। यथा—

१—प्रेमयुक्त व्यापार से सहसा इष्टसिद्धि हो जाने से—जैसे रत्नावली में राजा वत्स जब वासवदत्ता का कण्ठपाश छुड़ाने गया तब जिसे वह वासवदत्ता समझता था उसे सागरिका पाकर कृतकृत्य हो गया।

२—श्लेष-युक्त अथवा चतुरवागुम्फित वाक्यों से—जैसे वेणीसंहार—

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः।

इस वाक्य में रक्त आदि श्लिष्ट-पदों से नायक का मङ्गल सूचित हुआ।

३—किसी दूसरे ही अभिप्राय से कहे गये वाक्य का और ही अर्थ होकर उससे किसी कार्य्य के निश्चय होने से। जैसे वेणीसंहार में कञ्चुकी ने "भग्नं भीमेन भवतः" कहकर वायु द्वारा रथ की पताका का उखड़ जाना कहा; परन्तु उसके अस्पष्ट अक्षरों से दुर्योधन के ऊरुभङ्ग का अर्थ सूचित हुआ।

४—प्रधान फल के सूचक श्लिष्ट वचनों से। जैसे रत्नावली में "उद्दामोत्कलिका"—इस श्लोक में, भावी बात की सूचना श्लेष से व्यञ्जित हो गई।

इन चार प्रकारों से आनेवाले पताका-स्थानों को जहाँ कवि की इच्छा हो वहाँ लावे। इससे वर्ण्य वस्तु में चमत्कार आ जाता है। इसी लिए इनके लाने का नियम रक्खा गया है।

जो बातें प्रत्यक्ष दिखलाने योग्य नहीं होतीं; परन्तु जिनकी सूचना देना आवश्यक होता है, उनको कविजन अर्थोपक्षेपक नामक व्यापार द्वारा दिखलाते हैं। अर्थोपक्षेपकों के पाँच भेद हैं। विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कावतार और अङ्कमुख।

१—विष्कम्भक। जो बातें पहले हो गई हैं, अथवा जो आगे होनेवाली हैं, उनकी सूचना जिस संक्षिप्त रीति से होती है वह विष्कम्भक कहलाता है। उदाहरणार्थ—मालतीमाधव में, पाँचवें अङ्क के अन्तर्गत, श्मशान-दृश्य के पहले कपाल-कुण्डला का कथन।

२—प्रवेशक। इससे भी विगत और भाविनी बातों की सूचना की जाती है। यह सूचना नीच पात्रों के द्वारा होती

है। पहले अङ्क में प्रवेशक नहीं आता। वह सदैव दो अङ्कों के बीच में आता है। उदाहरणार्थ—वेणीसंहार नाटक में राक्षस-मिथुन।

३—चूलिका। नेपथ्य से जिस वस्तु अथवा जिस अर्थ की सूचना की जाती है उसे चूलिका कहते हैं।

४—अङ्कावतार। एक अङ्क के अन्त में पात्रों के द्वारा अगले अङ्क में होनेवाली बातों की कहीं कहीं सूचना होती है। इस सूचना के अनुसार जब अगला अङ्क आरम्भ होता है तब उसे अङ्कावतार कहते हैं। उदाहरणार्थ—अभिज्ञान-शाकुन्तल में, पाँचवें अङ्क के अन्त में, पात्रों की सूचना के अनुसार छठे अङ्क का आरम्भ हुआ है।

५—अङ्कमुख। अङ्क में जिन बातों का वर्णन है उनके बीज, अर्थात् कारण, की जिसमें सूचना होती है उसे अङ्कमुख कहते हैं। उदाहरणार्थ—मालतीमाधव के प्रथम अङ्क में कामन्दकी और अवलोकिता ने भूरिवसु इत्यादि आगे आने-वाले पात्रों के आगमन की सूचना की है।

नाटक में वर्णन की गई वस्तु का आरम्भ करने के पहले कई भूमिकायें आवश्यक होती हैं। उनके नाम पूर्व रङ्ग, प्ररोचना और प्रस्तावना हैं।

१—पूर्व रङ्ग। पूर्व रङ्ग के कई अङ्ग हैं, परन्तु उनमें नान्दी मुख्य है। देवता, ब्राह्मण किंवा राजा की आरम्भ में जो स्तुति रहती है उसे नान्दी कहते हैं। नान्दी का अर्थ

आनन्ददायक है। नान्दी एक प्रकार का मङ्गलाचरण है; इसी से नाटक के आरम्भ में उसका प्रयोग होता है। नान्दी के लिए एक अथवा दो पद्य बस होते हैं; परन्तु कहीं कहीं अधिक देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ—वेणी-संहार में छः श्लोक हैं। नाटक का प्रधान परिचालक सूत्रधार होता है। अर्थात् खेल का सूत्र उसी के हाथ में रहता है। वही नान्दी कहाता है। कहीं कहीं "नान्द्यन्ते सूत्रधारः" इन शब्दों को देखकर कोई कोई यह अर्थ करते हैं कि नान्दी के अन्त में सूत्रधार आता है। परन्तु यह ठीक नहीं; नाटक का मुख्य प्रबन्ध-कर्त्ता सूत्रधार ही होता है और वही नान्दी उच्चारण करता है। इन संस्कृत शब्दों का यह अर्थ है कि नान्दी हो जाने पर सूत्रधार ने अगला कार्य्य आरम्भ किया।

२—प्ररोचना। वस्तु की, कवि की, नाटक की अथवा प्रसङ्ग की प्रशंसा करके दर्शकों को खेल देखने के लिए उन्मुख करने का नाम प्ररोचना है। इसी को सभा-पूजा भी कहते हैं। रत्नावली नाटक में "श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुण-ग्राहिणी" यह श्लोक प्ररोचना का उदाहरण है। इस प्ररो-चना में कवि का नाम-निर्देश आदि प्रायः स्वयं कवि ही का किया होता है। परन्तु ऐसा करने में आत्मश्लाघा का दोष नहीं आ सकता; क्योंकि यह कथन रङ्गभूमि में, सूत्रधार के मुख से, निकलता है; कवि वहाँ स्वयं नहीं कहता। कभी कभी यह कवि-प्रशंसा दूसरों के द्वारा भी लिखी जाती है। उदा-

हरणार्थ—मृच्छ-कटिक नाटक की प्ररोचना शूद्रक कवि के मरने की सूचना देती है; अतएव वह किसी दूसरे की लिखी हुई है।

३—प्रस्तावना। कवि और नाटक इत्यादि का नाम-निर्देश हो जाने पर सूत्रधार, नटी अथवा अपने साथी (पारिपार्श्विक) से, नाटक के पात्रप्रवेशादि समयोचित कर्मों के सम्बन्ध में जो बातचीत करता है उसे प्रस्तावना अथवा आमुख कहते हैं। इस प्रस्तावना के ५ भेद हैं। यथा—उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और आवलगित।

१—उद्घातक। किसी ने किसी दूसरे ही अभिप्राय से कुछ कहा; परन्तु उस वाक्य का दूसरा ही अर्थ लेकर कार्य आरम्भ करने को उद्घातक कहते हैं। उदाहरणार्थ—मुद्रा-राक्षस नाटक में चन्द्र-सम्बन्धी वाक्य से चन्द्रगुप्त अर्थ निकाल-कर कार्य्यारम्भ हुआ है।

२—कथोद्घात। जहाँ सूत्रधार के कहे हुए वाक्य अथवा वाक्यार्थ को लेकर पात्रप्रवेश होता है उसे कथोद्घात कहते हैं। जैसे, वाक्य का विचार करके रत्नावली में यौगन्ध-रायण का प्रवेश हुआ है; और वाक्यार्थ का विचार करके वेणीसंहार में भीमसेन का प्रवेश हुआ है।

३—प्रयोगातिशय। जहाँ सूत्रधार आदि के भाषण में यह, वह, वे, इत्यादि दर्शक सर्वनामों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में किसी का उल्लेख रहता है और उसके अनुसार पात्र-प्रवेश होता है वहाँ प्रयोगातिशय समझना चाहिए।

४—प्रवर्तक। जिस समय खेल हो रहा हो उस समय के अनुकूल ऋतु आदि का वर्णन करके उस वर्णन की सदृशता के बहाने जहाँ पात्र-प्रवेश होता है वहाँ प्रवर्तक नामक प्रस्तावना होती है।

५—श्रावलगित। किसी के उच्चारण किये गये वाक्यार्थ से, उसी के समान, अथवा किसी दूसरे, कार्य की सिद्धि होने से आवलगित नामक प्रस्तावना होती है। जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तल में सूत्रधार अपनी स्त्री से कहता है—"तेरे मधुर गान को सुनकर मैं ऐसा आकर्षितान्तःकरण हो गया हूँ जैसा यह राजा दुष्यन्त हरिण के द्वारा यहाँ खींच लाया गया है।"

नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धिनी, अभी, अनेक बातों का विचार करना है; परन्तु रूपक और उपरूपक के भेदों का हम पहले निदर्शन करना चाहते हैं। तदनन्तर और और बातों का हम उल्लेख करेंगे।

२—प्रकरण। रूपक का दूसरा भेद प्रकरण है। उसमें सब बातें प्रायः नाटक ही की सी होती हैं। अन्तर इतना ही है कि इसमें वर्णन की गई कथा बहुत उन्नत नहीं होती। इसका विषय कल्पित होता है; किसी पुराण आदि से नहीं लिया जाता। इसमें शृङ्गार रस प्रधान है। नायक किसी राजा का मन्त्री, अथवा ब्राह्मण, अथवा वैश्य होता है। नायिका कुल-कामिनी अथवा वेश्या होती है। यदि कुलकामिनी नायिका होती है तो वह प्रकरण शुद्ध कहलाता है; और यदि वेश्या होती

है तो सङ्कीर्ण कहलाता है। वेश्या से अभिप्राय आजकल की सी वेश्याओं से नहीं है; मृच्छकटिक की वसन्तसेना के समान गाने-बजाने में प्रवीण, धार्मिक, नम्र और प्रीति सम्पादन योग्य स्त्रियों से है। मालतीमाधव और मृच्छकटिक प्रकरण हैं।

३—भाण। धूर्त और दुःशील लोगों के चरित को दिखलाकर सामाजिकों को हँसाने और वैसे आचरण से दूर रहने के लिए भाण की रचना की जाती है। इसमें एक ही मनुष्य अपनी अथवा दूसरे की अनुभव की हुई बातें, अपने ही आप, आकाश की ओर देखकर, कहता है; और अपने ही आप उनका उत्तर भी देता है। इसमें एक ही अङ्क होता है। इसका वृत्तान्त कल्पित होता है, अथवा किसी के चरित को लक्ष्य करके लिखा जाता है। शारदातिलक, वसन्ततिलक, पञ्चायुधप्रपञ्च इत्यादि भाण संस्कृत में हैं।

४—व्यायोग। इसमें वीर-रस प्रधान होता है। स्त्रीपात्र नहीं होते अथवा बहुत कम होते हैं। इसलिए शृङ्गारिक बातें भी कम आती हैं। इसमें एक ही अङ्क होता है; आदि से अन्त तक एक ही कार्य के उद्देश्य से सब क्रियायें होती हैं; और एक ही दिन की कथा का वर्णन रहता है। इसका नायक प्रसिद्ध देवर्षि, राजर्षि अथवा और कोई धीरोद्धत स्वभाव का होता है। धनञ्जय-विजय और जामदग्न्यजय इसके उदाहरण हैं।

५—समवकार। इसमें तीन अङ्क रहते हैं और १२ तक नायक होते हैं। सब नायक देवता, दानव अथवा मनुष्यों से

चुने जाते हैं। इन नायकों की क्रियाओं का फल पृथक् पृथक् होता है। इसमें प्रधान रस वीर रहता है। बिन्दु और प्रवेशक नहीं आते। गायत्री और उष्णिक् आदिक वैदिक छन्द रहते हैं। इसके तीनों अङ्कों में यथाक्रम २४, ६ और ४ घड़ी में होनेवाली घटनाओं का वर्णन होता है। शृङ्गाररस बहुत ही कम रहता है, वीर-रस की प्रधानता होती है। इसमें शत्रुता और द्वेष-सूचक बातें; दैविक और कृत्रिम उपद्रव; नगरों का घेर लिया जाना; युद्ध की तैयारी तथा हाथी, घोड़ा रथ इत्यादि दिखलाये जाते हैं। संस्कृत में समुद्र-मथन नाम का समवकार है।

६—डिम। समवकार की अपेक्षा डिम और भी अधिक भयानक खेल है। इसमें ४ अङ्क होते हैं। इसके नायक देवता, दैत्य, राक्षस, गन्धर्व, भूत, प्रेत इत्यादि १६ तक होते हैं। इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं आते। लड़ाई, इन्द्र-जाल, माया, मारपीट इत्यादि अद्भुत और रौद्ररस-प्रधान बातें रहती हैं। उदाहरण के लिए त्रिपुरदाह नामक डिम है।

७—ईहामृग। इसका नायक मनुष्य अथवा देवता होता है। उसका स्वभाव धीरोद्धत होना चाहिए। उसका प्रतिपक्षी एक प्रति-नायक भी होना चाहिए। ईहामृग में एक नायिका भी होती है। नायक और प्रतिनायक परस्पर में एक दूसरे का अपकार करने के यत्न में रहते हैं। नायिका के लिए उनमें परस्पर युद्ध भी होता है। वह युद्ध किसी निमित्त से रुक जाता है। नायक को नायिका नहीं मिलती, उसे

निराश होना पड़ता है; परन्तु मरने से वह बच जाता है। कुसुमशेखर-विजय नामक इहामृग संस्कृत में है।

८—अङ्क। इसमें नायक मनुष्य होता है; करुण-रस प्रधान रहता है; स्त्रियों का शोक विशेष वर्णन किया जाता है; जय, पराजय और बातूनी युद्ध का भी वर्णन रहता है। इसमें एक ही अङ्क होता है। उदाहरण के लिए शर्मिष्ठा-ययाति नामक अङ्क है।

९—वीथी। इसमें और भाण में बहुत ही कम भेद है। इसमें भी एक ही अङ्क होता है और एक ही पात्र खेलनेवाला रहता है। दशरूपक के मत में दो नट होने चाहिए। इसमे शृङ्गार-रस की प्रधानता रहती है। इसमें भी नट अपने आप, जो कुछ कहना होता है, कहता है। विनोद और आश्चर्यजनक बातों की इसमें विशेषता रहती है। इसका उदाहरण नहीं मिलता।

१०—प्रहसन। इसकी भी रचना प्रायः भाण ही की सी होती है। इसमें कवि-कल्पित निन्द्य लोगों का चरित दिख-लाया जाता है। हास्य-रस प्रधान रहता है। इसका नायक तपस्वी, संन्यासी, राजा अथवा ब्राह्मण इत्यादि प्रौढ़ स्वभाव का होता है। जार, चारण, भाट, वेश्या, विदूषक, नपुंसक इत्यादि अनेक पात्रों के द्वारा यह खेला जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य हँसाना और साथ ही उपदेश देना भी है। हास्यार्णव, धूर्त-नर्तक और लटक-मेलक आदि संस्कृत में कई प्रहसन हैं।

उप-रूपक

हमारे नाट्याचार्य्यों ने दृश्य-काव्य के इतने सूक्ष्म भेद किये हैं कि उनका पहचानना और पृथक्करण कठिन हो गया है। दृश्य-काव्य का मुख्य भेद जो रूपक है उसी के उन्होंने इतने भेद किये हैं कि दो चार भेद प्रायः एक दूसरे से मिलते हैं। यह बात उपरूपकों में और भी अधिक पाई जाती है; उनमें परस्पर और भी कम भेद है। उनके भेद भी अधिक अर्थात् १८ हैं। उनके नाम ये हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका। इन सबका विस्तृत लक्षण लिखने से यह निबन्ध बहुत बढ़ जायगा। इस वृद्धि को कम करने के लिए हम, संक्षेप में, इन उपरूपकों का लक्षण लिखते हैं। जो बातें, प्रत्येक भेद के विषय में, विशेष कही जायँगी उनके अतिरिक्त इन उप-रूपकों का लक्षण नाटक ही का सा समझना चाहिए।

१—नाटिका। इसमें ४ अङ्क होते हैं। इसका विषय कल्पित होता है। नायक प्रसिद्ध, धीर-ललित और राजा होता है। नायिका राज-कुल की तरुणी और गाने-बजाने में प्रवीण होती है। नायक उस पर आसक्त रहता है; परन्तु अपनी जेठी स्त्री के डर से, शङ्कित होने के कारण उससे यथेच्छ नहीं मिल सकता। यदि नाटिका की रचना प्रकरण से अधिक मिलती है तो वह प्रकरणिका कहलाती है; और यदि नाटक से अधिक

मिलती है तो नाटिका कहलाती है। रत्नावली और विद्धशालभञ्जिका की गिनती नाटिकाओं में है।

२—त्रोटक। इसमें शृङ्गार-रस प्रधान रहता है। नायक दिव्यादिव्य अर्थात् आधा मनुष्य और आधा देवता होता है। ५, ७, ८ अथवा ९ अङ्क होते हैं। विक्रमोर्वशीय त्रोटक उदाहरण है।

३—गोष्ठी। एक अङ्क, ९ अथवा १० पुरुष तथा ५ अथवा ६ स्त्री-पात्र; रस शृङ्गार; उदाहरण, रैवतमदनिका।

४—सट्टक। रस अद्भुत; भाषा प्राकृत; बिना विष्कम्भक और प्रवेशक का। शेष लक्षण नाटिका के समान। उदाहरण, कर्पूरमञ्जरी।

५—नाट्य-रासक। अनेक प्रकार के ताल और लय संयुक्त नृत्य और गान; हास्य किंवा शृङ्गार-रस प्रधान। नायिका वासकसज्जा; अङ्क एक; नायक धीरोदात्त; उप-नायक पीठमर्द। उदाहरण, नर्म्मवती।

६—प्रस्थान। नायक दास; नायिका दासी; उनके सहयोगी सब नीच जाति के; अङ्क दो; गाना-बजाना विशेष; सुरापान भी खूब। उदाहरण, शृङ्गारतिलक।

७—उल्लाप्य। अङ्क एक; विषय कल्पित; रस शृङ्गार, हास्य अथवा करुण। किसी किसी के मत में अङ्क तीन और नायिकायें चार। उदाहरण, देवी-महादेव।

८—काव्य। अङ्क एक; विषय शृङ्गारिक; छन्द अनेक मात्रात्मक तथा गद्यात्मक; गाना और बजाना, दोनों। उदाहरण, यादवोदय।

९—प्रेङ्खण। अङ्क एक; विषय युद्ध और वध इत्यादि। विना सूत्रधार का। नान्दी नेपथ्य के भीतर ही होता है। उदाहरण, वालि-वध।

१०—रासक। अङ्क एक; पात्र पाँच; भाषा नाना प्रकार की; नायक मूर्ख; नायिका चतुर। इसमें सूत्रधार नहीं होता। उदाहरण, मेनकाहित—और अनेकमूर्च्छ।

११—संलापक। अङ्क एक, तीन अथवा चार; नायक पाखण्डी; विषय—युद्ध, विद्रोह, छल इत्यादि; शृङ्गार और करुण को छोड़कर दूसरे रस। उदाहरण, मायाकापालिक।

१२—श्रीगदित। इसमें भी एक ही अङ्क होता है। प्रसिद्ध नायक की योजना की जाती है। 'श्री' शब्द अधिक आता है। किसी किसी के मत में नायिका ही श्री—लक्ष्मी—का रूप धारण करती है। उदाहरण, क्रीडा-रसातल।

१३—शिल्पक। अङ्क चार; स्थल श्मशान; नायक ब्राह्मण; प्रतिनायक हीन; शान्त और हास्य को छोड़कर दूसरे रस। उदाहरण, कनकावती-माधव।

१४—विलासिका। इसे कोई कोई लासिका भी कहते हैं। अङ्क एक; शृङ्गार-रस प्रधान; विदूषक, पीठमर्द और

विट से संयुक्त; गद्य अधिक, पद्य कम; नायकहीन। उदाहरण नहीं पाया जाता।

१५—दुर्मल्लिका। अङ्क चार; नायकहीन नागरिक मनुष्यों की अधिकता। पहले अङ्क में विट की क्रीड़ा का वर्णन; दूसरे में विदूषक का भाषण; तीसरे में पीठमर्द का भाषण; चौथे में नायक का चरित। उदाहरण, बिन्दुमती।

१६—प्रकरणिका। नाटिका के तुल्य। भेद इतना ही है कि इसमें नायक धनवान् वणिक् होता है, और नायिका उसी के कुल की होती है।

१७—हल्लीश। अङ्क एक; पात्रों में एक पुरुष और आठ अथवा नौ स्त्रियाँ; नृत्य और गान की अधिकता। उदाहरण, केलि-रैवतक।

१८—भाणिका। नायकहीन; नायिका उदात्त; अङ्क एक; विषय शृङ्गारिक। उदाहरण, कामदत्ता।

इस प्रकार १० रूपक और १८ उपरूपकों में नाट्याचार्यों ने दृश्य-काव्य को बाँटा है। इन भेदों में कोई कोई भेद एक दूसरे से इतना मिलता है कि उसका पहचानना कठिन काम है। इससे एक बात यह अवश्य सूचित होती है कि प्राचीन समय में, यहाँ, यह कला बहुत ही उच्च अवस्था को प्राप्त थी। यदि ऐसा न होता तो दृश्य-काव्य के इतने सूक्ष्म भेद न किये जाते; और इतने अधिक नियमों से यह काव्य न जकड़ा जाता। ये सब पूर्वोक्त भेद हमने, यहाँ पर, वाचकों

के जानने के लिए लिख तो दिये हैं; परन्तु हमारा यह मत है कि हिन्दी में नाटक लिखनेवालों के लिए इन सब भेदों का विचार करना विशेष आवश्यक नहीं। इन भेदों का विचार करके इनमें से किसी एक शुद्ध प्रकार का नाटक लिखना, इस समय, प्रायः असम्भव भी है। देश, काल और अवस्था के अनुसार लिखे गये सभी नाटक, जिनसे मनोरञ्जन और सदुपदेश मिले, प्रशंसनीय हैं। वे चाहे हमारे प्राचीन आचार्य्यों के सारे नियमों के अनुकूल बने हों चाहे न बने हों; उनसे लाभ अवश्य ही होगा। इससे यह अर्थ न निकालना चाहिए कि नाट्यशास्त्र के आचार्य्यों में हमारी भक्ति नहीं है। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि ये सब जटिल नियम उस समय के लिए थे जिस समय भरत और धनञ्जय आदि ने अपने ग्रन्थ लिखे हैं। इस समय यदि उनको कोई परिवर्तित दशा में प्रयोग करे; और ऐसा करके, यदि वह सामाजिकों का मनोरञ्जन कर सके; तथा, अपने खेल के द्वारा वह सदुपदेश भी दे सके; तो कोई हानि की बात नहीं।

पात्र-कल्पना

दृश्य काव्य में पात्रों का नियमन कठिन काम है। चाहे जैसा देश हो, चाहे जैसा समाज हो, चाहे जैसी रुचि हो, पात्र-सम्बन्धी नियम सब कहीं एक ही से माने जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य की जीवित दशा में जिन बातों को देखकर चित्त पर

असर होता है, अथवा जिन बातों का विचारकर यह तत्काल भासित होने लगता है कि वे बातें औरों में नहीं पाई जातीं, उन्हीं बातों का सादृश्य दृश्य काव्य के प्रत्येक पात्र में मिलना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य रहता है। यह अन्तर, अभिनय के समय, प्रत्येक पात्र में स्पष्ट रूप से देख पड़ना चाहिए। पात्र चाहे जिस अवस्था का हो, चाहे जिस वृत्ति का हो, चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री हो—उसके सब काम उसी के से होने चाहिए। उसके स्वभाव का सादृश्य बात बात में मिलना चाहिए। एक वार वह जो कुछ करे अथवा जो कुछ कहे, वह उसके अगले कथन अथवा अगले कार्य्य से सर्वदा एकता सूचित करे; किसी प्रकार की भिन्नता न पाई जाय। इसलिए नाटककार को चाहिए कि अपने मन में वह प्रत्येक पात्र का स्वभाव पहले ही से स्थिर कर ले और उसी के अनुसार उससे सब काम ले। उसका यह काम नहीं है कि किसी पुरुष-विशेष अथवा स्त्री-विशेष के स्वाभाविक चरित को वह अपने काव्य में अङ्कित करे। नहीं, उसका यह काम है कि जिस प्रकार का वह वर्णन करना चाहता है अथवा जैसा खेल वह दिखलाना चाहता है उसी के अनुसार वह पात्र की कल्पना करे। तात्पर्य यह कि, कार्य्य के अनुसार पहले ही पात्र की कल्पना होनी चाहिए; पात्र के अनुसार कार्य्य की कल्पना नहीं। रङ्गभूमि में प्रत्येक पात्र का काम उसी का सा हो; उसमें किसी दूसरे के स्वभाव का मेल न

हो। उसकी बात, उसके कार्य्य, उसकी अङ्ग-भङ्गी से सामाजिकों को तत्काल ही उसका परिचय हो जाना चाहिए। हमारे प्राचीन नाटककारों ने इस बात का बहुत ही अच्छा निर्वाह किया है। जिसने बङ्ग-भाषा में शकुन्तलातत्त्व नामक पुस्तक देखी है वह कह सकेगा कि किस चतुरता से कालिदास ने शकुन्तला के पात्रों का नियमन किया है और किस कुशलता से प्रत्येक पात्र के कार्य का उसकी अवस्था, उसकी वृत्ति और उसके स्वभाव के अनुकूल निर्वाह किया है। रावणरूपी पात्र में उदारता; परशुराम में करुणा का उद्रेक; रामचन्द्र में छल इत्यादि का दिखलाना बड़ो भारी भूल है। ये बातें इन पुरुषों के स्वभाव से सर्वथा प्रतिकूल हैं। अतएव ये यदि किसी मूल कथा में हों, तो भी नाटककार को उन्हें अपने काव्य में न स्थान देना चाहिएं। शकुन्तला जिस समय अपने पति के यहाँ जाने लगी उस समय कण्व ने कहा—"हमारा कण्ठ रुद्ध हो गया है; चित्त उत्कण्ठित हो रहा है; आँसू निकलने चाहते हैं; हमारे सदृश विरक्त अरण्य-निवासियों की जब यह दशा है तब, कन्या विदा होते समय, गृहस्थों की क्यों न बुरी दशा हो।" इस प्रकार का कथन कण्व के बहुत ही स्वभावानुकूल है। वही, यदि, वे चिल्ला चिल्लाकर रोने लगते तो कदापि वह रस न रहता जो उनकी इस उक्ति में है; क्योंकि विरक्त मुनियों को रोना शोभा नहीं देता। उनके लिए रोना सर्वथा अस्वाभाविक है।

संस्कृत-नाट्यशास्त्र में पात्रों के अनेक भेद हैं। उनमें से मुख्य मुख्य भेदों का वर्णन हम यहाँ, संक्षेप से, करते हैं।

नायक। रूपक अथवा उपरूपक में वर्णन की गई वस्तु के फल का जो भोक्ता होता है उसे नायक कहते हैं। जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तल में दुष्यन्त, रत्नावली में राजा वत्स, उत्तर-रामचरित में रामचन्द्र। जैसा नायक होता है वैसाही उसका चरित भी होता है। यदि वह बुरा है तो उसका चरित भी बुरा होना चाहिए; और यदि भला है तो चरित भी भला होना चाहिए। बुरे नायक के कार्यों का परिणाम बुरा बतलाना चाहिए, जिसे देखकर देखनेवालों को उपदेश मिले और बुरे कामों से उनका मन हट जाय।

कुलानुसार नायक के तीन भेद रक्खे गये हैं। दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य। देवताओं को दिव्य, मनुष्यों को अदिव्य और जिनकी अवतारों में गिनती है ऐसे मनुष्यरूपी देवताओं को दिव्यादिव्य कहते हैं।

स्वभाव के अनुसार नायकों के चार भेद हैं। धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीर-प्रशान्त।

१—धीरोदात्त। जो क्षमाशील, गम्भीर और गर्वहीन होता है; जो अपनी बड़ाई अपने मुँह से नहीं करता; जो हर्ष और शोक आदि में सम रहता है; उसे धीरोदात्त कहते हैं। जैसे, रामचन्द्र, युधिष्ठिर और दुष्यन्त।

२—धीरोद्धत। जो गर्विष्ठ और बलवान् होता है; जो आत्म-श्लाघा करता है; जो स्वभाव से धृष्ट होता है; और जो कभी कभी कपट भी कर बैठता है; वह धीरोद्धत है। यथा, भीमसेन।

३—धीर-ललित। जो चतुर, विनोदशील और विलास-प्रिय होता है; गाने-बजाने से जो प्रीति रखता है; अनेक प्रकार की कलाओं में जो निपुण होता है; उसे धीरललित कहते हैं। यथा, श्रीकृष्ण और वत्सराज।

४—धीर-प्रशान्त। ऊपर कहे गये विशेष गुण जिसमें नहीं होते; किन्तु सामान्य सभ्य मनुष्य के लिए जो बातें आवश्यक होती हैं वे जिसमें पाई जाती हैं उसकी गिनती धीर-प्रशान्त में है। जैसे, मालतीमाधव का माधव।

इसके अतिरिक्त शृङ्गार-रस का अवलम्बन करके, स्त्रियों के साथ नायक के व्यवहारानुकूल, और भी उसके चार भेद होते हैं। वे ये हैं—दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ। इनके लक्षणों की यहाँ पर आवश्यकता नहीं।

पूर्वोक्त प्रकारों का एक दूसरे से मेल करने पर नायक के ४८ भेद हो जाते हैं। इन ४८ को दिव्यादिव्यता के अनुसार गुणित करने पर सब भेदों की संख्या कोई १५० के लगभग पहुँचती है। इन सब भेदों का विचार करके नायक नियत करना और उसके स्वभावानुकूल सब कामों का निर्वाह करना बहुत कठिन है। सम्भव है, पूर्व-काल में कठिन न रहा हो; परन्तु इस समय इन सूक्ष्म भेदों को ध्यान में रखकर तदनु-

कूल किसी का चरित्र अङ्कित करना अवश्य कठिन नहीं, महा कठिन काम है।

जैसे नायक के अनेक भेद हैं वैसे ही नायिका के भी हैं। ये भेद वही हैं जिनका वर्णन नायिका-भेद के प्रेमी कवियों ने विस्तार से किया है। हम उनके नाम मात्र यहाँ पर देते हैं। पहले तीन भेद—स्वकीया, परकीया और सामान्या। स्वकीया के फिर तीन भेद—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। शृङ्गार-रस में, अवस्थाभेद से, स्वकीया के और भी आठ भेद हैं। यथा—स्वाधीनपतिका, खण्डिता, अभिसारिका, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका, वासक-सज्जा और विरहोत्कण्ठिता। परकीया के भी दो भेद हैं—ऊढ़ा (विवाहिता) और अनूढ़ा, अर्थात् अविवाहिता-कन्या।

स्त्री-पात्रों का विचार करते समय एक बात, हम, यहाँ पर, और लिखना चाहते हैं। वह यह है कि प्राचीन समय में स्त्रियाँ परदे में न रहती थीं। यह हमारे पुराने रूपक और उपरूपक ग्रन्थों से प्रमाणित है। परदा हम लोगों ने पीछे से सीखा है। पहले स्त्रियों में परदे का प्रचार यहाँ बिलकुल न था। प्रवास के समय सीता और दमयन्ती ने परदे का बिलकुल विचार नहीं किया। रामचन्द्र की माता कौशल्या, वाल्मीकि के आश्रम को दो ही चार रक्षक और सेवक साथ लेकर गई थीं। वस्तुत प्राचीन समय में साधारण स्त्रियों की तो कोई बात ही नहीं, रानियाँ तक, जब और जहाँ उनकी

इच्छा होती थी, तब और तहाँ वे चली जाया करती थीं। वे नाटक का खेल देखने के लिए रङ्गभूमि में उपस्थित रहती थीं; विवाह आदि कार्यों में भी बाहर निकलती थीं; और स्नान-पूजन के लिए भी जाया करती थीं। मन्दिरों में पूजन के लिए और तीर्थादिकों में स्नान के लिए तो अब तक वे जाती हैं। स्त्रियों की पूर्वकालीन स्वतन्त्रता का एक यही पिछला चिह्न बचा है। स्त्रियों में परदे का प्रचार थोड़े ही दिनों से हुआ है; इसके अनेक प्रमाण हैं। रत्नावली नाटिका के अनुसार राजा वत्स का मन्त्री, सिंहलद्वीप से आये हुए दूत को लेकर, राजमन्दिर के भीतर चला गया था, वहाँ राजा के पास ही उसकी रानी भी थी। विवाहिता स्त्रियाँ दूसरों के साथ बातचीत तक करती थीं। शकुन्तला ने दुष्यन्त की सभा में उसके साथ, सब के सामने, वार्तालाप किया और वासवदत्ता ने अपने पिता के यहाँ से आए हुए दूत के साथ, बिना सङ्कोच के, बातचीत की। मालविकाग्निमित्र के अनुसार—अग्निमित्र की रानी और उसकी परिपोषिता बहन मेखला ने तो विदूषक के साथ विनोद तक किया। अविवाहिता स्त्रियाँ अन्य पुरुषों की बात का उत्तर तो न देती थीं; परन्तु बाहर अवश्य निकलती थीं; और यदि उनसे कोई कुछ कहता था तो उसे वे सुन भी लेती थीं। यह बात मालतीमाधव और रत्नावली से सिद्ध है।

दृश्य काव्य में नायक और नायिकाओं के सिवा और भी अनेक पात्र आवश्यक होते हैं। उनमें से ये मुख्य हैं—उप-

नायक, सूत्रधार, नट-नटी, पारिपार्श्विक अर्थात् मारिष, विदूषक, पीठमर्द, विट और चेट।

१—उपनायक। नायक का प्रतिपक्षी, अर्थात् जिसके विषय में नायक का पराक्रम वर्णन किया जाता है, उपनायक कहलाता है। जैसे, रामायण में रामचन्द्र नायक और रावण उपनायक अथवा प्रतिनायक है। यह प्रायः वीर-रसात्मक रूपकों ही में आता है।

२—सूत्रधार। नाटक की सारी व्यवस्था करनेवाले और सब पात्रों को यथोचित रूप देकर उनसे अभिनय करानेवाले को सूत्रधार कहते हैं। उसी के हाथ में नाटक-सम्बन्धी सब सूत्र रहते हैं; इसी लिए वह सूत्रधार कहलाता है। वह चतुर, व्यवहार-कुशल और सङ्गीत-शास्त्र में निपुण होता है।

३—नटी। सूत्रधार की स्त्री को नटी कहते हैं। वह भी इच्छित रूप धारण करती है।

४—नट। अनेक प्रकार के रूप धारण करनेवाले मनुष्य।

५—पारिपार्श्विक। सूत्रधार का सहायक। गुणों में यह उससे कुछ कम होता है।

६—विदूषक। यह नायक का मित्र होता है। इसका काम लोगों को हँसाकर उन्हें प्रसन्न करना है।

७—पीठमर्द। यह भी नायक का साथी होता है; परन्तु विदूषक की अपेक्षा यह गुणों में हीन होता है।

८—विट और चेट। बात-चीत करने में कुशल, नृत्य और गान आदि कलाओं को थोड़ा बहुत जाननेवाला, धूर्तता

में प्रवीण, वेष आदि धारण करने में चतुर-पुरुष को विट कहते हैं। ऐसे ही लक्षणों से लक्षित पुरुष को चेट भी कहते हैं। विट और चेट, नायक की शृङ्गार-रस-सम्बन्धिनी सहायता करने के लिए नियुक्त होते हैं।

सूत्रधार और नटी, अथवा सूत्रधार और पारिपार्श्विक प्राय: सभी नाटकों में होते हैं। दूसरे पात्र, जिनका नाम ऊपर दिया गया है, विशेष करके शृङ्गार-रस-प्रधान रूपकों ही में आते हैं। पात्रों की यह नामावली हमने प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अनुसार दी है। यह कोई आवश्यक बात नहीं कि यही पात्र सब प्रकार के रूपक और उपरूपकों में आवें। वस्तु-स्थिति के अनुसार पात्रों की कल्पना होनी चाहिए। अतएव पात्रों के विषय में कोई ठीक नियम नहीं किया जा सकता। कोई कोई सब प्रकार के खेलों में विदूषक रखते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं। विदूषक का काम हँसाना है; इसलिए जिस स्थल में उसका हास्यकारक भाषण शोभा देता हो; उसी स्थल में उसका प्रवेश होना चाहिए।

भाषा

नाट्यशास्त्र के आचार्य भरतजी की आज्ञा है कि दृश्य काव्य की भाषा बहुत ही परिमार्जित होनी चाहिए। वह ऐसी परिमार्जित हो कि उसे सुनते ही सुननेवाले का चित्त प्रसन्न हो जाय। इस नियम का पालन दृश्य काव्य के कवियों

ने बड़ी दृढ़ता से किया है। इसलिए संस्कृत-नाटकों की भाषा क्रम क्रम से कठिन होती गई है। कालिदास और भवभूति आदि महाकवियों ने अपने नाटकों की भाषा अत्यन्त ललित, अत्यन्त मधुर और अत्यन्त हृदयङ्गम लिखी है। उनके ग्रन्थों को पढ़कर उनका भाव समझने में बहुत ही कम प्रयास पड़ता है। परन्तु, पीछे से बने हुए नाटकों की भाषा विशेष क्लिष्ट हो गई है। अनर्घराघव और मुरारिनाटक आदि का समझना, सामान्य संस्कृत के जाननेवाले के लिए, कठिन काम है।

भारतीय नाट्य-शास्त्र के नियमानुसार नाटक की साधारण बातें गद्य में लिखी जानी चाहिए। परन्तु जहाँ किसी वस्तु का वर्णन आवे; अथवा जहाँ कोई अद्भुत बात कहनी हो; अथवा जहाँ का भाव बहुत ही अच्छा हो; वहाँ पद्य-प्रयोग करना उचित है। कालिदास, भवभूति और श्रीहर्ष के नाटकों को ध्यानपूर्वक देखने से जान पड़ता है कि कहाँ गद्य और कहाँ पद्य लिखना उचित है। इन कवियों ने ऐसे ऐसे स्थल चुनकर पद्यों का प्रयोग किया है कि उनकी रुचि और उनकी सहृदयता की पर्याप्त प्रशंसा नहीं की जा सकती। गद्य और पद्य के प्रयोग के विषय में कोई विशेष नियम नहीं बनाये जा सकते। कवि को स्वयं इस बात का निर्णय करना होता है कि कहाँ गद्य और कहाँ पद्य अधिक रुचिकर और अधिक शोभावर्द्धक होंगे।

संस्कृत-नाटकों में पात्रों की योग्यता के अनुसार संस्कृत अथवा प्राकृत बोलने का नियम किया गया है। प्राकृत-

भाषाओं में शौरसेनी, मागधी, पैशाची और महाराष्ट्री भाषाओं का विशेष प्रयोग है। नायक, सूत्रधार और पढ़े लिखे उच्च स्थितिवाले पात्र संस्कृत बोलते हैं; स्त्रियाँ शौरसेनी, सेवक मागधी; राजपूत और वणिक् अर्द्धमागधी; विदूषक प्राची; भूत, प्रेत और असभ्य लोग पैशाची। इसके अतिरिक्त अपने अपने प्रान्त के अनुसार साधारण लोग द्राविड़ी, वाल्हीक और आवन्तिक आदिक भाषायें भी बोलते हैं। ये प्राचीन नियम प्राचीन समय के लिए थे। अब इनका प्रतिपालन नहीं हो सकता। अब संस्कृत ही का विशेष प्रचार नहीं है; पुरानी प्राकृत का तो बिल्कुल ही नहीं। नाटक में पात्रों की भाषा उनकी स्थिति के अनुकूल होनी चाहिए। अर्थात् साधारणतः व्यवहार में, जो जैसी भाषा बोलता हो वैसी ही भाषा का प्रयोग रङ्ग-भूमि में अभिनय के समय भी होना चाहिए। यह नियम करना कि कौन किस भाषा में बात-चीत करे सर्वथा ठीक नहीं है। सर्व-साधारण को उपदेश देने के लिए रङ्ग-भूमि में व्यावहारिक दृश्यों को दिखाना नाटक खेलने का उद्देश होता है। अतएव जिस पात्र की जो भाषा हो उसी भाषा का प्रयोग उचित है। यही नियम ठीक और व्यापक जान पड़ता है।

रचना-चातुर्य्य

नाटक-ग्रन्थों का अभिप्राय मनोरञ्जन के साथ साथ उपदेश देना है। अतएव दृश्य काव्य में जो बातें दिखलाई जायँ

उनका असर देखनेवालों पर होना चाहिए। इस असर—इस प्रभाव—को उत्पन्न करने के लिए सरसता आवश्यक होती है। यदि दृश्यों में रस का अच्छा परिपाक होगा तो दर्शकों का चित्त भी अवश्य ही आकर्षित होगा। इसलिए खेल में जिस वस्तु का अनुकरण किया जाय वह ऐसी योग्यता से किया जाना चाहिए कि जिस रस का वह पोषक हो उस रस से सामाजिकों का अन्तःकरण परिप्लुत, पराभूत, किंवा द्रवित हो जाय। दृश्य काव्य के कर्त्ता कवि के कथन में रस रहता है। वह रस अभिनय द्वारा प्रकट किया जाता है। काव्य की सरसता और अभिनय की पूर्णता तब सिद्ध हुई समझनी चाहिए, जब जैसा कहीं हमने ऊपर लिखा है, दर्शकों को रङ्ग-भूमि में, आनन्ददायक दृश्य को देखकर आनन्द हो; खेदजनक दृश्य को देखकर खेद हो; कोप-कारक दृश्य को देखकर कोप हो; और भयानक दृश्य को देखकर शरीर में कम्प होने लगे। अर्थात् जो कुछ वे देखें उसे देखते ही उनमें तत्काल सहानुभूति उत्पन्न हो जाय। इस प्रकार की सरसता और ऐसा प्रभाव उत्पादन करना साधारण कवि और साधारण अभिनेता का काम नहीं है। तदर्थ सभी कुछ असाधारण होना चाहिए। इसी लिए विद्वानों का मत है कि उत्तम रूपक लिखना कठिन है; और अभिनय द्वारा उसकी उत्तमता सिद्ध करना और भी अधिक कठिन काम है।

दृश्य काव्य में शृङ्गार आदि वे ही रस आते हैं जिनका वर्णन संस्कृत में रसतरङ्गिणी आदि ग्रन्थों में है। हिन्दी में भी

रस के प्रेमियों ने इस विषय की पुस्तकें लिखी हैं। इसलिए, यहाँ पर, हम रसों के नाम, लक्षण और उदाहरण आदि नहीं देते।

योरप और अमरीका में नाटक के दो भेद हैं। एक ट्रैजिडी, दूसरा काम्यडी। परन्तु हमारे यहाँ ऐसा विभाग नहीं किया गया। ट्रैजिडी अर्थात् वियोगान्त, किंवा दुःखान्त, नाटकों का सर्वथा अभाव है। हमारे आचार्य्यों और कवियों का यह सिद्धान्त रहा है, और अब तक भी है, कि किसी वस्तु का अन्त दुःख में न होना चाहिए। मङ्गल ही से आरम्भ और मङ्गल ही में अन्त करना उनका नियम है। इसी लिए मङ्गलात्मक नान्दी और मङ्गलात्मक ही भरत-वाक्य नाटकों में रक्खे जाते हैं। रूपक अथवा उपरूपक के अन्त में जो प्रार्थना रहती है उसे "भरत-वाक्य" कहते हैं। उसमें "भरत" शब्द शायद नाट्यशास्त्र के आचार्य्य भरतजी का बोधक है। वियोगान्त अथवा दुःखान्त नाटकों का क्यों अभाव होना चाहिए? इसका कोई कारण नहीं देख पड़ता। दृश्य काव्य का अभिप्राय मनुष्य-चरित को अभिनय द्वारा दिखलाना ही है। मनुष्य को सुख भी होता है और दुःख भी होता है। दुराचारियों के कर्म्मों का फल प्रायः दुःखमय ही हुआ करता है। अतएव यदि ऐसों का चरित दृश्य काव्य के रूप में दिखलाया जाय तो उसका अन्त दुःखद होना ही चाहिए। अतएव, वियोगान्त अथवा दुःखान्त नाटक लिखना, हमारी समझ में, अनुचित नहीं है।

रूपक-रचना में तीन बातें विशेष ध्यान में रखने के योग्य होती हैं। उनके नाम हैं वस्तु, अर्थ-प्रकृति और सन्धि।

रूपक में जिस कथा का वर्णन रहता है उसे वस्तु कहते हैं। उसके दो भेद हैं—एक आधिकारिक, दूसरी प्रासङ्गिक। मुख्य कथा-भाग को आधिकारिक और उसकी सहाय-कारिणी दूसरी कथाओं को प्रासङ्गिक कहते हैं। जैसे बाल-रामायण में रामचन्द्र की कथा आधिकारिक और सुग्रीव की प्रासङ्गिक है। कवि को चाहिए कि उत्तमोत्तम वस्तु ढूँढ़कर उसके आश्रय पर वह कविता करे। और, मुख्य वस्तु से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी कथायें हों उन सबका परस्पर ऐसा मेल मिलावे जिसमें वे एक दूसरे से पृथक् न जान पड़ें। कवि को यह भी उचित है कि रससिद्धि की ओर वह विशेष ध्यान रक्खे। जिन बातों से रस का विच्छेद होता हो उनको वह पास न आने दे। मूल कथा में यदि कोई रस-विघातक बात आ जाय तो उसे समूल निकालकर उसके स्थान में कोई और ही कल्पित, परन्तु रस-परिपोषक बात, वह रक्खे। तात्पर्य्य यह कि रस-विच्छेद किसी प्रकार न होने देना चाहिए। इन्हीं कारणों से भवभूति ने उत्तररामचरित में रामचन्द्र के द्वारा छिपकर वालि का वध नहीं वर्णन किया। क्योंकि, राम के समान धीरोदात्त नायक को वह बात शोभा नहीं देती।

वस्तु-वर्णन में देश और काल का भी भली भाँति विचार रखना चाहिए। जो बात जिस देश और जिस काल के अनु-

कूल नहीं है उसे कदापि न दिखलाना चाहिए। देश और काल के अनुसार, आचार-विचार, वेशभूषा और रीति-भाँति का वर्णन करना उचित है। जो बातें जिस समय असम्भवनीय हों उनका वर्णन करना अनुचित है। पण्डितों के लिए पण्डितों की सी, मूर्खों के लिए मूर्खों की सी; स्त्रियों के लिए स्त्रियों की सी, राजाओं और अधिकारियों के लिए उनकी सी भाषा प्रयोग में लानी चाहिए। सबसे बढ़कर इस बात का विचार रखना चाहिए कि, अन्तिम अङ्क पढ़े अथवा देखे बिना, यह न कोई समझ सके कि कथा का अन्त किस प्रकार होगा। यदि यह बात समझ में आ जायगी तो वाचकों अथवा दर्शकों की उत्कण्ठा जाती रहेगी और नाटक का सारा रस ख़ाक में मिल जायगा।

नाटकरचना में अर्थ-प्रकृति का भी विचार रखना चाहिए। अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए जो दूसरे अर्थों की योजना की जाती है उसे अर्थ-प्रकृति कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य्य।

१—बीज। कथा-भाग का मुख्य हेतु, जिससे और अनेक कार्य्य उत्पन्न होते हैं और जो क्रम क्रम से विस्तृत होता जाता है, बीज कहलाता है। वेणीसंहार नाटक में द्रौपदी के केशों का संयमन—बाँधना—बीज है; उसी से और अनेक बातों की उत्पत्ति हुई है।

२—बिन्दु। समाप्त होनेवाली एक कथा को जो बात, निमित्त होकर, आगे बढ़ाती है उसका नाम बिन्दु है। रत्ना-

वली में अनङ्ग-पूजा समाप्त होने पर कथा भी समाप्त होनेवाली थी कि, इतने में, सागरिका ने कहा—"क्या यह राजा उदयन है ?" बस, इतना कहने से कथा-प्रसङ्ग आगे चला।

३—पताका। प्रधान फल का सिद्ध करनेवाला प्रासङ्गिक वृत्तान्त पताका कहलाता है। जैसे शकुन्तला-नाटक में विदूषक का और वेणीसंहार में भीमसेन का वृत्तान्त।

४—प्रकरी। एकदेशीय अर्थात् छोटी छोटी बातों को प्रकरी कहते हैं। जैसे रामचरित में जटायु का मोक्ष।

५—कार्य। वर्णित विषय के फल का नाम कार्य है। जैसे रत्नावली नाटिका में वत्स और रत्नावली का विवाह।

कार्य्य के पाँच अङ्ग होते हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। निबन्ध बढ़ जाने के डर से इन सबका लक्षण हम नहीं लिखते। इन पाँचों अङ्गों के मेल से नाटक में वर्णन की गई वस्तु के पाँच विभाग हो जाते हैं। इन विभागों का नाम सन्धि है।

प्रधान कथा से सम्बन्ध रखनेवाली जो दूसरी कथायें (अङ्ग) होती हैं उनको युक्तिपूर्वक एक दूसरी से युक्त—सम्मिलित कर देने को सन्धि कहते हैं। सन्धियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। यथा—मुख-सन्धि, प्रतिमुख-सन्धि, गर्भ-सन्धि, विमर्ष-सन्धि और निर्वहण-सन्धि।

१—मुख-सन्धि। किसी कथा के आरम्भ को मुख-सन्धि कहते हैं। उसी के योग से अगली बातों का विस्तार होता है।

जैसे मालतीमाधव में मालती और माधव का परस्पर प्रथम-दर्शन। यह दर्शन यद्यपि अनायास सा हुआ जान पड़ता है; परन्तु यथार्थ में दूसरों के द्वारा उसकी योजना हुई है।

२—प्रतिमुख-सन्धि। मुख-सन्धि में दिखलाये गये बीज का निदर्शन जिसमें कुछ कुछ प्रकट और कुछ कुछ अप्रकट रीति पर किया जाता है उसे प्रतिमुख-सन्धि कहते हैं। जैसे रत्नावली में, सागरिका के ऊपर वत्सराज के प्रेम-सम्बन्धी संशय का, वासवदत्ता के मन में उदय।

३—गर्भ-सन्धि। प्रतिमुख-सन्धि में प्रकाशित हुए बीज का किसी कारण से लोप सा हो जाना; परन्तु फिर उसके ढूँढ़ने के लिए प्रयत्न होना गर्भ-सन्धि का लक्षण है।

४—विमर्ष-सन्धि। वस्तु का बीज विस्तृत होने पर, उसके पूर्ण होने में जब शाप अथवा भय आदिक विघ्न आते हैं तब विमर्ष-सन्धि होती है।

५—निर्वहण-सन्धि। जिसमें सब सन्धियों का अन्त हो जाता है, अर्थात् सब सन्धियों में वर्णन की गई बातों का जिसमें मेल मिल जाता है, उसे निर्वहण अथवा उपसंहृत-सन्धि कहते हैं।

इन पाँच सन्धियों के ६४ भेद हैं, जिनके द्वारा ६ प्रकार से फल की प्राप्ति होती है। ये ६ प्रकार इष्टार्थ-रचना, आश्चर्य-लाभ, वृत्तान्त-विस्तार, दर्शकसन्तोष, गोप्य-गोपन और प्रकाश्य-प्रकाशन कहलाते हैं। इन सबका वर्णन विस्तार-भय से यहाँ पर नहीं किया जाता। इन भेदों का विचार करने से

भी यह बात सिद्ध होती है कि किसी समय, नाट्य-कला, भारतवर्ष में, बहुत ही उन्नत अवस्था को प्राप्त थी। यदि ऐसा न होता तो नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी इतने भेद न होते और बाल की खाल खींचकर आचार्य्य लोग, नियमों द्वारा, नाटककारों को इतनी दृढ़ता से न बाँध देते।

वृत्तियाँ, अलङ्कार और लक्षण

रस को उत्पन्न करनेवाला, नायक और नायिकाओं का जो व्यापार होता है उसे वृत्ति कहते हैं। नायिका और नायक प्रायः शान्त, उग्र अथवा मृदुस्वभाव के होते हैं। अतएव अपने स्वभाव के अनुसार वे जो चेष्टा करते हैं वही वृत्ति है। वृत्ति ही से रस उत्पन्न होता है। इसलिए वृत्ति को नाट्यशास्त्र के आचार्य्यों ने बड़ा महत्व दिया है। उसके चार भेद हैं। यथा—कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती। इनमें से पहले की तीनों विशेष करके शृङ्गार, वीर और रौद्र रस की क्रमशः पोषक होने से उन्हीं में आती हैं। अन्तिम वृत्ति अर्थात्, भारती, सब रसों में काम आती है। भिन्न भिन्न प्रकार की वृत्ति को, भिन्न भिन्न प्रकार से नाटक-रचना की प्रणाली समझना चाहिए।

१—कैशिकी। जो वृत्ति नृत्य, गीत और अनेक प्रकार की शृङ्गारिक सामग्री से युक्त होती है; जिसमें स्त्रियों की अधिकता रहती है; और, जिसमें नायक-नायिका आदि के विलासवर्द्धक

व्यापारों का वर्णन रहता है उसे कैशिकी कहते हैं। यह सब से अधिक हृदयहारिणी और आनन्ददायिनी प्रणाली है। इसके चार भेद हैं—नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ।

२—सात्वती। जिसमें शौर्य, वीर्य, दया, दाक्षिण्य और दानादि की अधिकता वर्णित रहती है; जिसमें शृङ्गार रहता तो है, परन्तु कम; जिसमें नायक के व्यापार बड़े उत्साह के साथ दिखलाये जाते हैं, वह सात्वती वृत्ति है। उत्थापक, संघात्य, संलाप और परिवर्तक, ये इसके चार भेद किंवा अङ्ग हैं।

३—आरभटी। क्रोध, मारपीट, युद्ध, वध, मायाप्रसार आदि नायक के व्यापारों का जिसमें वर्णन रहता है वह आरभटी वृत्ति कहलाती है। इसके भी चार भेद हैं—वस्तूत्थापन, संफेट, संक्षिप्ति और अवपातन।

४—भारती। जिसमें मनोहर, कर्ण-सुखद और परिमार्जित भाषा रहती है उसे भारती-वृत्ति कहते हैं। संस्कृत के रूपकों में जहाँ प्राकृत भाषा कम, और, मधुर और मनोहर संस्कृत विशेष रहती है वहाँ भारती-वृत्ति मानी जाती है। प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख ये इसके चार भेद हैं। इनके लक्षण ऊपर दिये जा चुके हैं। और वृत्तियों के भेदों का लक्षण, निबन्ध बहुत बढ़ जाने के भय से, हम नहीं देते।

रूपक और उपरूपक में आनेवाले अलङ्कार भी वृत्तियों ही के अन्तर्गत हैं। इसलिए उनकी भी नामावली हम, यहाँ पर, देते हैं। नाट्यालङ्कारों की गणना ३३ है। यथा—

१—आशी	१७—उत्तेजन
२—आक्रन्द	१८—परिवाद
३—कपट	१९—नीति
४—अक्षमा	२०—अर्थ-विशेषण
५—गर्व	२१—प्रोत्साहन
६—उद्यम	२२—साहाय्य
७—आश्रय	२३—अभिमान
८—उत्प्राशन	२४—अनुवर्तन
९—स्पृहा	२५—उत्कीर्तन
१०—क्षोभ	२६—याच्ञा
११—पश्चात्ताप	२७—परिहार
१२—उपपत्ति	२८—निवेदन
१३—आशंसा	२९—प्रवर्तन
१४—अध्यवसाय	३०—आख्यान
१५—विसर्प	३१—युक्ति
१६—उल्लेख	३२—प्रहर्ष

३३—उपदेशन

इन अलङ्कारों का लक्षण नाट्यशास्त्र में देखकर यथा-प्रसङ्ग उनकी योजना करनी चाहिए।

अलङ्कारों के अतिरिक्त नाटक में ३६ प्रकार के "लक्षण" भी आते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१—भूषण—उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कार और माधुर्य्य, ओज आदि गुणों का जहाँ योग होता है वह।

२—अक्षरसंघात—चित्तवेधक अर्थ और मधुर अक्षरों से जो वृत्तान्त वर्णन किया जाता है वह।

३—शोभा—जिस रचना से प्रस्तुत अर्थ से अप्रस्तुत अर्थ की सूचना होती है वह।

४—हेतु—किसी बात के लिए मन में उत्पन्न हुई इच्छा अथवा अभिलाषा।

५—उदाहरण
६—संशय
७—दृष्टान्त
८—तर्क
} प्रसिद्ध हैं।

९—पदोच्चय—अर्थ के अनुसार पदों की योजना।

१०—निदर्शन—दूसरे की बात को प्रसिद्ध प्रकट करने के लिए दृष्टान्त देना।

११—अभिप्राय—असम्भावित अर्थ की कल्पना।

१२—प्राप्ति—विशेषण द्वारा किसी अर्थ का भासित होना।

१३—विचार—हेतु-गर्भित बातों से अप्रत्यक्ष विषयों की कल्पना करना।

१४—दिष्ट—देश और काल की सहायता से किसी बात का वर्णन करना।

१५—उपदिष्ट—उपदेश-गर्भित वाक्य।

१६—गुणातिपात—गुणों के विपरीत कार्यों की घटना का वर्णन।

१७—गुणातिशय—यथार्थ से अधिक गुणों का वर्णन।

१८—विशेषण—प्रसिद्ध अर्थ के अनेक विशेषण देना।

१९—निरुक्ति—जो बात हो चुकी है उसका वर्णन।

२०—सिद्धि—अर्थ-सिद्धि के लिए एक ही विषय के साधक अनेक अर्थों का वर्णन।

२१—भ्रंश—हर्ष अथवा शोक से अभिभूत हुए के मुख से निकले हुए वाक्यों से इच्छित अर्थ का उलटा अर्थ निकालना।

२२—विपर्य्य—सन्देह के द्वारा विचारों का अभाव दिखलाना।

२३—दाक्षिण्य—दूसरे के चित्त का अनुवर्तन।

२४—अनुनय—मधुर और मनोहर शब्दों से अपने अभिलषित अर्थ को दूसरे के मन में प्रविष्ट करना।

२५—माला—काव्य-सम्बन्धी एक अलङ्कार, जिसमें कारण-परम्परा द्वारा वस्तुओं का वर्णन रहता है।

२६—अर्थापत्ति—अर्थान्तरबोधक वाक्यों से अन्य अर्थ की प्रतीति होना।

२७—गर्हणा—दोष दिखलाते हुए किसी की निन्दा करना।

२८—पृच्छा—इच्छित वस्तु को विनय-पूर्वक ढूँढ़ना अथवा पूछना।

२९—प्रसिद्धि—किसी बात को किसी प्रसिद्ध बात के द्वारा जानना।

३०—सारूप्य—सदृशता के कारण जो भ्रम उत्पन्न होता है उस भ्रम से दुःख पाना।

३१—संक्षेप—दूसरे से साधारण प्रकार पर स्वयं बातचीत।

३२—गुणकीर्तन—गुणों का वर्णन।

३३—लेश—तुल्यतागर्भित वाक्य।

३४—मनोरथ—प्रकारान्तर से अपने मन की बात कहना।

३५—अनुक्तसिद्धि—किसी विशेष बात का विस्तार-पूर्वक वर्णन।

३६—प्रियोक्ति—प्रसन्नता-पूर्वक किसी की प्रशंसा करना। इन सब लक्षणों का उदाहरण देने से उनका रूप भली भाँति ध्यान में आ जाता; परन्तु ऐसा करने से बहुत विस्तार होगा। हमें इस निबन्ध को शीघ्र ही समाप्त करना है; अतएव इस विभाग को हम यहाँ ही छोड़ते हैं।

जवनिका, परदे और वेशभूषा

नाटक के पात्र स्थित होकर जहाँ अभिनय करते हैं उस स्थान का नाम रङ्गभूमि, किंवा रङ्गशाला, किंवा रङ्गस्थल है। इस रङ्गभूमि के सम्मुख, द्वार पर, जो परदा पड़ा रहता है उसे जवनिका कहते हैं। पात्रों को जब वेश बदलना होता है, अथवा भीतर जब कोई दूसरा दृश्य दिखलाने के लिए

तैयारी करनी होती है, तब जवनिका गिरा दी जाती है। जवनिका के भीतर ही से पात्रों का प्रवेश, रङ्गस्थल में होता है। जवनिका अर्थात् अँगरेज़ी के "ड्रापसीन" नामक परदे पर नदी, पर्वत, अरण्य, महल आदि के मनोहर चित्र रहते हैं। किसी किसी पर अभिनय किये जानेवाले दृश्यों का भी चित्र रहता है। आकाशवाणी और दूर से सुनाई पड़नेवाले शब्द रङ्गभूमि के पीछे होते हैं। इस अन्तरङ्ग-स्थल का नाम नेपथ्य है। नाट्य-सम्बन्धी किसी किसी ग्रन्थ में जवनिका और नेपथ्य, ये दोनों शब्द, एक ही अर्थ के बोधक माने गये हैं।

नाट्य-सूत्र और दशरूपक को हमने ध्यान से देखा; परन्तु चित्रपट—परदे—के सम्बन्ध में हमको कोई नियम न मिले। यदि यह कहें कि जिस समय के ये ग्रन्थ हैं उस समय भीतरी परदों का प्रयोग न होता था तो ठीक नहीं; क्योंकि प्राचीन नाटकों को देखने से विदित होता है कि नाटकीय पात्र एक ही स्थान में स्थित रह कर भिन्न भिन्न प्रकार के दृश्यों का उल्लेख करते थे; और नदी, पर्वत, मन्दिर और प्रासादों के दृश्य भी एक दूसरे के अनन्तर देख पड़ते थे। यद्यपि प्राचीन समय में कोई सर्वसाधारण नाट्यशाला (थिएटर) न थी; परन्तु परदों के द्वारा भिन्न भिन्न दृश्य अवश्य दिखलाये जाते थे। जिस जाति ने नाट्यशास्त्र की इतनी अधिक उन्नति करके सूक्ष्म से सूक्ष्म नियम बनाकर नाटकीय खेल को सविशेष मनोरञ्जक करने का इतना प्रयत्न किया वह यथोचित

दृश्यों के दिखलाने की आवश्यकता न समझेगी, यह असम्भव सा प्रतीत होता है। वस्तु-वर्णन के अनुकूल नये नये दृश्यों को दिखलाने से रङ्गस्थल की शोभा बढ़ जाती है और दर्शकों को सविशेष आनन्द मिलता है। अतएव चित्रपटों के द्वारा दृश्यों का दिखलाया जाना बहुत ही आवश्यक बात है।

प्राचीन समय में वेशभूषा का यथोचित विचार किया जाता था। जो पात्र जिस वेश और जिस भूषा के योग्य होता था उसे उसी के अनुकूल अपना रूप बनाना पड़ता था। स्त्रियों का रूप स्त्रियाँ भी कभी कभी लेती थीं, परन्तु लड़के और पुरुष ही प्रायः स्त्री-पात्र बनते थे। मालतीमाधव की कामन्दकी के समान प्रौढ़ पात्र की जहाँ योजना होती थी वहाँ उसका रूप पुरुषों ही को धारण करना पड़ता था। जिस प्रकार रङ्ग-भूमि की शोभा मनोहर दृश्यों के दिखलाने से बढ़ जाती है, उसी प्रकार अनुकूल वेशभूषा होने से पात्रों के अभिनय की मोहकता भी बढ़ जाती है। प्रत्येक पात्र का वेश और भूषण अनुकूल होने से उसका अभिनय सामाजिकों के चित्त पर अधिक प्रभाव उत्पन्न करता है। परन्तु, इस विषय में न तो कहीं किसी ग्रन्थ में कोई नियम है और न कोई नियम बनाया ही जा सकता है। देश, काल और सामाजिकों की रीति तथा रुचि के अनुसार वेश और भूषण की कल्पना होनी चाहिए।

दृश्य काव्य का काल-विभाग

दृश्य काव्य-सम्बन्धी जितने ग्रन्थ संस्कृत में हैं उनको कालानुसार तीन भागों में बाँट सकते हैं—आदिम, मध्यम और अन्तिम।

ईसा के १०० वर्ष पहले से दशम शताब्दी तक आदिम काल समझना चाहिए। इस समय, भारतवर्ष विद्या, बुद्धि और कला-कौशल में उन्नत अवस्था को प्राप्त था। जितने अच्छे अच्छे काव्य, नाटक और अन्य उपयोगी ग्रन्थ इस समय पाये जाते हैं वे सब प्रायः इसी समय के हैं। कालिदास और भवभूति ने इसी समय अपने जन्म से भारत भूमि को अलङ्कृत किया। दृश्य काव्य की रचना में कालिदास की कोई बराबरी नहीं कर सकता। मानुषिक जीवन के सब विकार, सब कार्य और सब भावनाओं का उन्होंने ऐसा अध्ययन किया था कि उनकी शकुन्तला इसी देश में नहीं किन्तु देशान्तरों में भी, उनके इसी गुण के कारण, बड़े ही आदर से देखी जाती है। उनके तीन नाटक—शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र प्रसिद्ध ही हैं। उनके विषय में यहाँ पर कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। इतना, हम, यहाँ पर, अवश्य कह देना उचित समझते हैं कि कोई कोई विद्वान् मालविकाग्निमित्र को कालिदास-कृत नहीं कहते।

शूद्रक-कृत मृच्छकटिक भी इसी काल के अन्तर्गत है। इसकी भी रचना बड़ी ही मनोमोहिनी है। इसकी गणना उत्तम नाटकों में है; और सचमुच वह है भी बहुत उत्तम।

आठवीं शताब्दी के ग्रन्थों में भवभूति-रचित उत्तररामचरित, महावीरचरित और मालतीमाधव हैं। किसी किसी के मत में भवभूति का आसन नाटक-रचना में, कालिदास के भी ऊपर है। यदि सब बातों में नहीं तो वर्णन-विचित्रता में भवभूति, कहीं कहीं, कालिदास से अवश्य ही बढ़ गये हैं। भवभूति की भाषा कालिदास की भाषा से कुछ कठिन है; यही एक बात, उनकी बराबरी कालिदास से करते समय, खटकती है। भवभूति के मालतीमाधव की शेक्सपियर के रोमियो और जूलियट से तुलना की जाती है।

भट्टनारायण-कृत वेणी संहार भी इसी विभाग के भीतर है। परन्तु, उसकी रचना पूर्वोक्त कवियों के ग्रन्थों से कई बातों में हीन है।

दृश्य-काव्य-सम्बन्धी मध्यम काल ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक है। इस समय श्रीहर्ष ने रत्नावली और नागानंद लिखे; विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस लिखा; कृष्ण मिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय लिखा; और जयदेव ने प्रसन्नराघव लिखा। इनमें से मुद्राराक्षस ऐतिहासिक नाटक है। संस्कृत में यही एक ऐसा नाटक है जिसमें राज-कर्म-सम्बन्धी गूढ़ मन्त्रणाओं का उद्घाटन हुआ है। इस काल के ग्रन्थों में से श्रीहर्ष की रत्नावली और विशाखदत्त का मुद्राराक्षस औरों से अधिक मनोहर और इसी लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। नागानन्द में बौद्धधर्म्म के अनुकूल बातों की अधिकता है; और प्रबोधचन्द्रोदय में वेदान्त के अनुकूल बातों की।

चौदहवीं शताब्दी के अनन्तर का काल अन्तिम है। उसे ह्रास-काल कहना चाहिए। इस काल में कई रूपक और उपरूपक बने; परन्तु उनमें से प्रायः एक भी उस स्थान के पाने योग्य नहीं जो आदिम और मध्यम काल के ग्रन्थों को मिला है।

बम्बई से प्रकाशित काव्यमाला में अनेक नाटक, प्रहसन और भाण निकले हैं और निकलते जा रहे हैं। उनमें से कई एक काश्मीर के पण्डितों के भी बनाये हुए हैं। परन्तु नाटकरचना में कालिदास और भवभूति को जो सफलता हो गई सो हो गई; उनकी बराबरी करने में अभी तक कोई दूसरा समर्थ नहीं हुआ।

आज तक संस्कृत में जितने रूपक और उपरूपकों का पता लगा है उनकी संख्या सौ से ऊपर है। परन्तु नाट्यशास्त्र की उन्नति का विचार करने से यह संख्या कुछ भी नहीं है। इस विषय के हजारों ग्रन्थ रचे गये होंगे, जिनका अधिकांश राज्य-विप्लव आदि कारणों से नष्ट हो गया जान पड़ता है।

उपसंहार

इस निबन्ध में विशेष करके प्राचीन नाट्यशास्त्र की हमने समीक्षा की है। परन्तु प्रसङ्ग-वश, कहीं कहीं हमने कुछ और भी कह दिया है। यहाँ पर, हिन्दी भाषा की नाटक-

प्रणाली के विषय में, हम कुछ नहीं कहना चाहते। अभाग्य-वश हिन्दी में दो चार को छोड़ कोई अच्छे रूपक ही नहीं। नाटक लिखना लोगों ने खेल समझ रक्खा है। नाटक लिखने की प्रणाली का जिन्हें अत्यल्प भी ज्ञान नहीं उन्होंने भी हिन्दी में नाटक लिखने की कृपा की है। ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि, इस प्रकार, ऊटपटाँग लिखकर उसे प्रकाशित करने से हिन्दी ही की नहीं, स्वयं उनकी भी हानि है। नाटक लिखना सबका काम नहीं; उसके लिए उपयुक्त विद्या-बुद्धि के अतिरिक्त लोक-व्यवहार और मनुष्य-प्रकृति का पूरा पूरा ज्ञान होना चाहिए।

नाट्य-कला का फल उपदेश देना है। उसके द्वारा मनो-रञ्जन भी होता है और उपदेश भी मिलता है। चाहे जैसा नाटक हो, और, चाहे उसे जिसने बनाया हो, उससे कोई न कोई शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो नाटककार का प्रयत्न व्यर्थ है; अभिनेता का परिश्रम व्यर्थ है; और दर्शकों का नेत्र-व्यापार भी व्यर्थ है। जो लोग इन्द्रसभा और गुलेबकावली आदि खेल, जो पारसी-थियेटर-वाले आजकल प्रायः खेलते हैं, देखने जाते हैं उन्हें अपना हानि-लाभ सोचकर वहाँ पधारना चाहिए।